CHETANALOK
CHETANALOK
KE
PARICHAYAK
RAJNISHJI

चेतनालोक के परिचायक.....

आचार्य रजनीशजी के साथ

1966 से - 1972

तुलसीश्याम के 'साधना-शिविर' में :

चेतनालोक के पथ-परिचायक आचार्य रजनीशजी के साथ ~

संभग्न साधना-पथ के एक साधक के स्वानुभव एवं स्व-पर परिचयात्मक संस्मरण ।

*

आलेखक :
'निशान्त'
(प्रो. प्रतापकुमार न. दोशी)

शारदागढ़
(राजस्थान)

शिविर में आने से पूर्व....

अनंत की खोज की मेरी स्वल्प, श्रान्त और अब कुछ अस्पष्ट-सी बनी हुई साधना के उपक्रम में, अंतस् की स्फुट अनुभूतियों, बाहर की घटनाओं एवं कुछ अंतर्दृष्टाओं के परिचयों के पश्चात् सहसा जब आचार्य रजनीशजी का नाम सुना था, तब भीतर में एक हलचल-सी मच गई थी..... अंतर्वीन के तार अनुभूति के समस्तल पर आनंद से झंकृत हो उठे थे। तब प्रतीत हुआ था कि अपरिचित होते हुअे भी परिचित-की-सी इस व्यक्ति का सान्निध्य मेरे अंतस्तल के प्रसुप्त स्रोत को जगाकर पुनः बहा देगा, अंतस् की अर्वर धरती को रसप्लावित कर देगा। फिर बात सुनी - तुलसीश्याम में उनके सान्निध्य में होने जा रहे साधना शिविर की। सौराष्ट्र का सृष्टि-धाम तुलसीश्याम और वहाँ रजनीश जी

आत्मीयतापूर्ण, कितना प्रेमपूर्ण था उनका पत्र! कितना सहज-स्पष्ट-स्वस्थ था उनका दर्शन!! पूछा था मैंने उनके 'साहित्य' के विषय में। प्रत्युत्तर में उन्होंने अपनी अंतर्योगयुक्त साधना-दृष्टि बतलाते हुअे, बड़ी विनम्रता के साथ लिखा था:

"मेरे प्रिय आत्मन्,

प्रेम। आपका पत्र मिला।

मैं प्रवास में था। कल ही लौटा हूँ, इसलिये प्रत्युत्तर में हो रहे इस विलंब के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

साहित्य तो मेरा क्या है? कुछ जो बोलता हूँ, वही संकलित कर लिया गया है। वस्तुतः शब्द में मेरी आस्था नहीं है। शब्द नहीं, शून्य जीवन में ले जाता है। फिर भी जो इंगित हैं, वे तो शब्द में ही करने पड़ते हैं। यह विवशता है। यह भय है कि कहीं शब्द ही न पकड़ लिये जावें? धर्म के साथ सदा ही यही हुआ है। धर्म तो निःशब्द अनुभूति है, लेकिन संप्रदायों के प्राण तो निष्प्राण

शब्द ही हैं।

"साहित्य नहीं, प्रश्न सत्य का है।

"जल्दी ही मिल रहे हैं। शेष बात मिलकर ही होगी। जो शब्द संकलित हुये हैं, वे भी तुलसीश्याम में मिल जायेंगे। वैसे इनका कोई मूल्य नहीं है।

"वहाँ सब को मेरा प्रणाम कहें।

रजनीश के प्रणाम"

बड़ी ही महत्वपूर्ण, मार्मिक, चिन्तनीय बात लगी थी उनकी। किन्तु जिसके पीछे तत्व, अर्थ, भाव का प्राधान्य हो ऐसे नाद-शब्दपथ को भी साधना का एक माध्यम बनाकर — साहित्य-संगीत के द्वारा — आनंद की ओर, सत्य की ओर, 'असीम' की ओर जानेवाले मुझ जैसे 'स-सीम' साधक के लिये 'शून्यपथ' का, 'शब्द के प्रति अनास्था' का, यह अवलम्ब तब प्रश्नमय एवं रहस्यपूर्ण प्रतीत हुआ। पर पत्र के साथ साथ जब तुलसीश्याम पहुँचा और उनकी प्रेम-प्रज्ञा से प्रसूत ऐसी प्रसन्न वाणी सुनी, तब पाया कि कि अंतस्तल से फूटकर उन्मत्त स्रोत की भाँति बहते आने वाले

उनके मंगल, मंजुल सुमधुर 'शब्द' निश्चय ही उनकी निःशब्द अनुभूति के परियायक हैं, 'शून्य' के संकेत और अज्ञात के इंगित-से हैं। उनका मूल चित्त या मस्तिष्क में नहीं, भीतर की सुदूर गह्वरों में है। यह भी पाया कि शब्द को "पकड़नेवालों" के नहीं, शब्द को "छोड़नेवालों" के, 'निःशब्द' को पकड़नेवालों के, शब्द के उस पार पहुँचनेवालों के शब्दों में ही जान होती है, आत्मा होती है।

पर फिर मेरी वह चिन्तना :

माना कि शब्दपथ से - शब्दों के माध्यम से - असीम, अनंत, अज्ञात की, सत्य की, "स्व" की स्वल्प 'अभिव्यक्ति' हो सकती है, संकेत हो सकता है, 'इशारा' हो सकता है, पर उसी ही माध्यम से (शब्द के), उसकी ही (सत्य की) 'अनुभूति', 'भक्ति' या प्राप्ति भी क्यों नहीं? क्या वह केवल 'शून्यपथ' से ही हो सकती है?

विवेक का यह प्रश्न बना रहा।
उसका पूर्ण समाधान तब बाकी था।

'शूरों' और शेरों की धरती पर —
जहाँ लहरा रहा था यह शिविर!

तुलसीश्याम !

प्रेम, पराक्रम और पौराणिक कथा की पश्चाद्-भू एवं 'शूरों' और 'शेरों' की बस्ती लिये सौराष्ट्र के 'गिर'-प्रदेश के पर्वतीय वन-प्रान्तर में बसा हुआ यह सौंदर्य-सभर प्रकृतिधाम!! वैसे पीछले कुछ दिनों से इस धाम का बाहरी कायाकल्प शुरु हुआ है, पर आज तो उसका वास्तविक कायाकल्प,— भीतरी कायाकल्प - प्रारँभ होनेवाला है.... उसकी ऊर्वरा धरती पर प्रेम-प्रज्ञा के प्रबुद्ध पुष्पों को परिपुष्पित करानेवाले 'नये बीज' बोये जानेवाले हैं.... उसके पुरातन कलेवर पर चिर-नूतन का आगमन होनेवाला है!!! ... इसी उद्देश्य से आज यहाँ, उसके अँचल में, लहरा रहा है, उसका रूप निखारनेवाला अेक अभूतपूर्व "साधना शिबिर"!..... शिबिर ही क्यों, किसी

ऋषि का प्राक्कालीन शांत तपोवन, किसी आत्मज्ञानी का आश्रम, किसी महाप्राज्ञ का वन-'विहार'.../इस की आत्मा यदि प्रेम-प्रज्ञा के मूर्तरूप और शून्यपथ के परिचायक अंतर्दृष्टा आचार्य रजनीशजी हैं, तो उसकी देह है- अथक परिश्रम करने पर भी 'नामशेष' बने रहनेवाले- 'नाम' से नहीं, काम से मतलब रखनेवाले,- सजग सृष्टा श्री रतुभाई अदानी (गुजरात राज्य के भूतपूर्व मन्त्री)/आज जो कुछ यहाँ दृश्योन्मुख है, 'जंगल' में 'मंगल' सा दिखाई दे रहा है, उसके मूल में सूत्रधार-से ये दोनों हैं: (दोनों (अपने अपने ढंग से-) क्रान्तदर्शी, दोनों 'नीरव', दोनों निर्भीक, दोनों निराले, दोनों अपने अपने क्षेत्र में 'शूर' और 'शेर' की स्मृति दिलानेवाले/यह भी बड़ी खूब कि इन दोनों का सुभग संमिलन 'शूरों' और 'शेरों' की ही इस धरती पर हुआ है!यह अवश्य कोई अर्थ रखता है...../

शिविर का मंगल प्रारम्भ :

गुरुवार, दिनांक २ फरवरी १९७९ की रात्री। चारों ओर घिरी हुई पहाडियाँ, सर्वत्र रजत किरणें बिखेरती हुई श्वेत चाँदनी, आम्रकुंजों के सभामंडप में ध्यानस्थ-सा, निःस्तब्ध बैठा हुआ दूर-सुदूर से आया हुआ साधक-समूह और सामने निर्बंध वृक्षों के तले सजाई गई बोधिवृक्ष या शांतिनिकेतन की स्मृति दिलानेवाली सादी, सुंदर, नैसर्गिक पीठिका.... इस पर परमात्मा के 'पंच' के-से पाँच व्यक्ति विराजमान हैं— सौराष्ट्र के लोककवि पद्मश्री दुला काग, गुजरात के संत-लोकसेवक श्री. रविशंकर महाराज, महात्मा गांधीजी के भतीजे श्री. नारणदास 'काका,' डा. जीवराज मेहता के ज्येष्ठ भ्राता श्री. जगजीवनदास मेहता एवं सभी के मध्य में सहजस्थित अंतर्दृष्टा आचार्य रजनीश जी— प्रज्ञा का परिचायक प्रशस्त ललाट, अमृत बरसाती हुई अनिमिष आँखें,

शिविर का अब मंगल प्रारंभ होनेको है। धन्य हूँ कि अनेक अंतःप्रज्ञ संतों की चरण-सेवी ऐसी अपनी वही 'सितार' हाथ में लिए आज इस नूतन क्रांतदृष्टा अंतर्दर्शी के सामीप्य में बैठा हूँ। सर्वत्र शांति है, निःस्तब्धता है, सन्नाटा है। बाहर भी, भीतर भी। शायद बाहर से कहीं अधिक शांति, आनंद और नीरव शून्यता भीतर में है। ... मेरी आँखें अपने आप बन्द हो जाती हैं, दृष्टि अंतस्तल के केन्द्र में जा पहुँचती है, अंगुलियाँ अज्ञातभाव से सितार पर फिरने लगती हैं.... सितार के स्वरों ने सारी नीरवता का शनैः शनैः खण्डन शुरु किया और ..... और अंतस् की अेकाकार, अकाद्वय आनंदानुभूति लिए - अनाहत का संस्पर्श किए - अभिव्यक्त होते गए महादेवी जी के अर्थगम्भीर शब्द - आहत नाद बनकर, शिविर के मंगल-गान के रूप में:

चिर सजग आँखें उनींदी, आज कैसा व्यस्त बाना,
जाग तुझको दूर जाना!

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कंप हो ले
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम
रो ले
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत शिखाओं में निठुर तूफान बोले,
पर तुझे है नाशपथ पर चिह्न अपने छोड आना
जाग तुझको दूर जाना!
(अपूर्ण : महादेवी वर्मा : दीपशिखा)

..... बड़े ही आनंद से गाया, बहिर जगत को भुल भीतर को टटोल टटोल कर गाया, अपने 'आप' के निकट ~~बैठ कर~~ बैठकर गाया। औरों का पता नहीं, मुझे तो निश्चय ही अनुभव हुआ कि मेरी उनींदी 'आँखें' न अब भुलावे में डाल सकती हैं, न भुला सकती हैं। मेरी अंतरात्मा न अपनी चिर सजगता छोड सकती है, न अधिक सो सकती है। भ्रम-बद्ध आत्म यात्री अब प्रबुद्ध बन जाग उठने को है, संशय-शंका और सुरक्षा-आकांक्षा की दीवारें को तोडने को है, अनंत की खोज में 'नाशपथ'

पर भी अब चल पड़ने को है। अब अधिक सोया जा कैसे सकता ?

गान पूरा हुआ, पर गान के पीछे रहा हुआ 'अज्ञात' अपनी सजगता का गान निःशब्द अनुभूति के जरिये अभी भी गाये जा रहा था। शिबिर आयोजकों के प्रास्ताविक सत्कार-वचन भी पूरे हुये। सभी कान लगाये हुये थे, दृष्टि गड़ाये हुए थे उस प्रशांत, प्रबुद्ध और प्रज्ञापूत मुखमुद्रा की ओर – किसी अचिंत्य प्रतीक्षा में। मेरे तो कान और दृष्टि का ही नहीं, मानों संपूर्ण अस्तित्व का ही मौन तादात्म्य हो गया था उनसे, और कोई अद्भुत एकता की सी हो रही थी।

और फिर जब सुनी वह वाणी–
– चिर-प्रतीक्षित, चिर-परिचित-सी!

सुदीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् फिर जब वाणी सुनी इस प्रबुद्ध अंतर्द्रष्टा की – अमृतमयी आनंदधारा – सी अंतस्सलीला प्रेम सरिता सी, मेरे

अंतर के द्वार पर टकराती हुई, मेरे इस मौन तादात्म्य को ही मुखर करती हुई, इस व्यक्ति से मेरी अभिन्नता स्थापित करती हुई, तब तो आनंद विभोर ही हो उठा। स्पष्ट प्रतीत हुआ कि यह चिर-प्रतीक्षित वाणी चिर-परिचित -सी है। उसे सुनते ही मानों मैंने मेरा खोया हुआ अपनापन पा लिया। पाया कि ये वही 'शब्द' हैं जो निःशब्दता के धरातल से उठते हैं, ये वही शब्द हैं जो स्वत्व का परिचय करवाते हैं, ये वही शब्द हैं जो अर्नत का ईशारा करते हैं। कितने छूनेवाले, कितने आंदोलित करनेवाले, कितने अर्थगम्भीर थे वे शब्द .... कितने स्नेह-सघन थे वे स्वर... कितनी सुमधुर थी वह ध्वनि..... कितना आर्ष था वह उद्घोष..... कितना स्पष्ट था वह दर्शन — जब उन्होंने अनुभूतियों को उँडेल उँडेल कर उस मंगल प्रवचन का आरंभ किया था।

"मेरे प्रिय आत्मनों!

इस अत्यंत आनंदपूर्ण स्थल पर मैं

भी आपका स्वागत करता हूँ। बहुत दूर से आप यहाँ इकट्ठे हुअे हैं। निश्चय ही आप कुछ पाना चाहते हैं। शायद ही कोई मनुष्य हो जो सत्य के लिये, आनंद के लिये खोज में न हो! हम कुछ पाना चाहते हैं, किन्तु बहुत बार तो स्पष्ट नहीं होता कि हम क्या पाना चाहते हैं। यदि खोज साफ न हो तो वह हमें कहीं नहीं पहुँचाती। स्पष्ट हो जाना चाहिए कि "मैं जीवन में किस चीज को पाना चाहता हूँ, किस वस्तु को समर्पित होना चाहता हूँ?" हममें से बहुत से असमर्पित ही समाप्त हो जाते हैं। हमारी खोज के लिये हमें यदि जीवन भी देना पड़े तो उसके लिये तैयार रहना चाहिए।..."

अनिमिष — अपलक • आँखें और प्रसन्न

मुखमुद्रा लिअे रजनीशजी कहते जा रहे थे और सब निःस्तब्ध बन सुनते जा रहे थे — सब के सब: साधक, दर्शक, यांत्रिक और शायद पेड़ और पहाड़ भी! और मैं? केवल 'सुनता' ही जा रहा हूँ.... सुनता ही जा रहा हूँ.....

मेरे लिए इस जीवन में तो प्रथम बार का ही यह श्रवण और प्रथम बार का दर्शन। पर अन्तस् में कोई ब वर्णनातीत आनंद है, तन्मयता है, क्यों कि कोई अभिन्न ऐसा 'परिचित ही मित्र गया है — खोया हुआ अपनापन बरसाने, सोयी हुई प्यास जगाने, खोज की भुलाई हुई दिशा दरसाने! यह मंगल प्रवचन "जीवन-सत्य की खोज" ही इस बात का संकेत था। वह इसलिए हू खा था कि उसके शब्दों में पाण्डित्य नहीं, प्रज्ञा-प्रसूत प्रेम भरा था, लकीर के फकीरवाली बातें नहीं, पिटी-पिटाई बातें नहीं, चिर-नूतन ऐसी निजी अनुभूति और सजग स्वयंबोध भरा था, लाद कर (Imposition से) स्वीकार (Convince) करवाने की कुंठित मनोवृत्ति नहीं, श्रोता को जिसमें अपनी ही आत्मा बोलती दिखाई दे ऐसी प्रतीति करवानेवाला सक्षम 'दर्शन' भरा था। वह वाणी आज केवल स्मृतिपट पर प्रतिध्वनित ही नहीं होती, अनुभूति की भावभूमि पर वैसी की वैसी, 'यथातथ्य' सुनाई देती है।

उसके कुछ शब्दोंको यहाँ इन पृष्ठों पर दोहराते समय मेरे भीतर तो उन शब्दों की निष्प्राणता नहीं, सशक्त सप्राणता अनुभव करता हूँ :-

"जीवन जिसके लिये दिया जा सके ऐसी कोई प्यास यदि न हो तो जीवन का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता।"

"जिसमें सोने-जागने दोनोंसे जाग जाते हैं वह 'धर्मजागरण' है।"

"धर्म आंतरिक गहरे तल पर जाग जाने से संबंधित है।"

"यदि आपको मृत्यु का भय मालूम होता हो तो आप 'जीवित' नहीं है। जो जीवित है उसे मृत्यु का भय कैसे?"

वास्तव में मृत्यु से भय है इसलिये 'आत्मा की अमरता' की बात करते हैं इस देश में! जो कौम कहती है कि 'आत्मा अमर है' वह मौत से डरती है।"

मान्यता का कोई मूल्य नहीं है, मूल्य है ज्ञान का। मान्यता अन्यों की होती है, उधार

होती है; ज्ञान स्वयं का होता है, स्वयंबोध का होता है। ज्ञानमें – जीवन को जान लेने में – मृत्यु का भय विलीन हो जाता है। और जो व्यक्ति 'जीवन' को जान लेता है वह दूसरे को भयभीत करने से मुक्त हो जाता है, उसके व्यवहार से हिंसा गिरकर प्रेम जागता है।"

"..... इसलिए जीवन-सत्य को कैसे जाना जा सके इसका विचार हमें शिविर में करना है।"

"जीवन-सत्य की खोज" की स्पष्ट दिशा की ओर मोड़ देनेवाली इस सक्षम वाणी को जब प्रत्यक्ष सुनी थी तब उससे तादात्म्य हो गया था। अतः उसकी समाप्ति होने पर उस 'मंगलगान' के समय की मेरी पूर्वानुभूति की स्मृति हुई। आश्चर्य अनुभव कर रहा हूँ कि यह वाणी तो मेरी पूर्वानुभूति को ही दोहरा रही है, गाने से पूर्व और पश्चात् निःशब्दता में और गाने के समय शब्दों की स्थूलता के उस पार गहराई में जा कर जिन प्रचंड भावों का अनुभव किया था,

उनको ही ~~गहराई में जा कर~~ अभिव्यक्त और अनुसंधित कर रही है, जोड़ रही है, खोल रही है। मेरे आनंद की सीमा न रही। प्रश्न हो रहा कि क्या मेरे ही अव्यक्त-अस्पष्ट अनुभूत भावों का स्पष्ट उद्घाटन तो रजनीश जी नहीं कर रहे - Screening करनेवाले डॉक्टर, जादूगर या अंतर्वेत्ता की भाँति? मान लें कि शायद ऐसा न भी हो और उनका वक्तव्य 'सहज' ही हुआ हो और 'सभी को लक्ष्य कर' हुआ हो तो भी मुझे इस अनुभव से बड़ा ही बल मिल रहा था, क्यों कि मैं अपनी पूर्वानुभूति को ही दृढ़ रूप में दोहराती हुई देख रहा था, मेरी आत्मा को ही बोलती हुई पा रहा था।

एक झलक से इस अनुभव के कुछ क्षणों के पश्चात् तुरन्त ही रजनीश जी फिर बोल उठे थे - साधनों के विषय में सावधान करने सूचनाएँ देते हुए:

"प्रथम तो मुझे कोई 'ऑथोरिटी' कोई

'गुरु' कोई 'अधिकारी' न मानें। मेरी बात पर विश्वास करने की कोई भूल न करें। मेरा कहा हुआ सब स्वीकार करने की अंधी निष्ठा नहीं होनी चाहिए। वह धर्मपतन कराती है। चाहिए विवेक। अतः विश्वास न करें, पर विचार करें। मैं विश्वास-विरोधी हूँ। मैं जो कह रहा हूँ वह अपनी 'अनुभूति' के बाद ही स्वीकार करें.....।"

कितनी मार्मिक बात!

बुद्ध की भाँति, अपने कथन को स्वीकार करवाने के विषय में निरग्रह की, अहंशून्यता की, उदासीनता की, तटस्थता की, विवेकयुक्त विनम्रता की बड़ी ही उपयुक्त दृष्टि थी उनकी। सभी साधकों के लिये अवश्य ही वह उचित, उपादेय और उपकारक थी। मेरे लिये भी उसका कतई कम मूल्य नहीं था। 'आत्मदीपो भव!' कि वह विवेकदृष्टि मेरे लिए इतनी तो प्रिय बन गई है और

जीवन में सहज बन गई है कि कई विरोधों और कष्टों के बावजूद भी उसे नहीं छोड़ने में मुझे आनंद, सुख और शांति का अनुभव हुआ है। असुख और अशांति का अनुभव तो वहाँ हुआ है और ठोकरें तो मैंने वहाँ खाई हैं, कि जहाँ उस दृष्टि को मैंने छोड़ा है या विवशतावश से छोड़ना पड़ा है। अतः उक्त दृष्टि के विषय में तो मेरा कोई प्रश्न ही नहीं था। यहाँ मेरा प्रश्न तो और ही था कि जिन भावों को, जिस दर्शन को, जिस अनुभूति को रजनीश जी अपनी वाणी में अभिव्यक्त कर रहे थे उसकी प्रवचन के पूर्व ही झलक-सी प्रतीती मुझे कैसे होने लगी थी? मेरे गाने के 'शब्दों के भी उस पार' जाकर इसकी झाँकी कैसे कर सका था? मेरी अनुभूतियों का अनुसंधान रजनीश जी ने कैसे कर लिया था? यह रहस्यमय लग सकता है, परन्तु अनुभूतियों के समतल पर

तादात्म्य के कारण यह हुआ था, जहाँ कि ऐसे अनुभव असंभव या अभिनव नहीं है। खैर, विवेकयुक्त साधना में ऐसे अनुभवों को अत्यधिक महत्ता भी देना नहीं होता। अब ऐसी अवस्था में, जब कि मुझे पूर्वानुभूति और तादात्म्य के कारण 'उनकी' बातें 'मेरी' ही प्रतीत हो रही थी, तब उन्हें 'विश्वास' से स्वीकार कर लेने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता था। उनकी बातों को सुनते समय मैं केवल 'सुनता' ही जा रहा था और उपर्युक्त अभेद-तादात्म्य अनुभव कर रहा था कि वे मेरी ही अनुभूति को वाचा दे रहे हैं या तो मैं ही उनके मुखसे बोल रहा हूँ। तादात्म्य की इस अवस्था पर प्रश्न हो सकते हैं, पर उसका समाधान अनुभवगम्य दीखता है, तर्कमय नहीं। फिर भी 'सुनने' की रहस्यमय प्रक्रिया का प्रभाव बतलाते हुए रजनीश जी उसका भी समाधान करते हैं, भेद बतलाते हैं :-

"..... सुनते समय विरोध, समर्थन या तुलना कुछ भी न करें। इस प्रकार बिना प्रतिक्रिया के, मात्र 'सुनना' या 'देखना' भीतर में एक क्रांति, एक परिवर्तन पैदा कर देता है, एक दर्शन दे देता है। कभी चाँद या फूलों के सामने १५ मिनट देखते रहें तो अनुभव होगा कि आप उसके 'मय' बन जाते हैं। इस प्रकार यदि ठीक से सुनें तो मन आपको छोड़ देगा।"

प्रामाणिक रूप से कहूँ कि मेरी रजनीश जी के साथ की तादात्म्य की स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही थी और शायद उसने ही मेरे 'मन को छोड़' दिया था और अनुभूति के सम तल पर ला रखा था। फिर वहाँ शब्दों के पूर्व भी हो सकती है क्यों कि उसका उद्गम तो 'निःशब्दता' में है ही।

इस छोटे से अनुभव का महत्वपूर्ण परिणाम यह आया कि मुझे मेरे आरम्भ के 'शब्द'—'निःशब्द' कि चिन्तना के सन्दर्भ में कुछ

प्रश्न-समाधान होने लगा कि, गहरी अनुभूति प्रायः 'निःशब्दता' से, 'शून्य' से ही हो सकती है/'शब्दपथ' से या तो वह पूर्ण रूप में नहीं होती, या बाद में होती है।

अस्तु! वैयक्तिक अनुभव की इन बातों को, रजनीश जी ने शिविर में साधना के लिए बतलाये हुये उन सूचनों के सार के साथ यहाँ समाप्त करूँगा :

(१) "सुनते समय ठीक से सुनें, विश्वास से मान न लें, विवेक और स्वानुभूति के बाद ही स्वीकार करें।"

(२) "जल्दी' को, चित्त और शरीर की विक्षिप्त गति को, रोकें।"

(३) अपने लक्ष्य को छोड़कर छोटी तकलीफों और क्षुद्र बातों की ओर ध्यान न दें।"

इन उपयोगी सूचनों के साथ शिविर के आरंभ का कार्यक्रम पूरा हुआ और बाहर की निःस्तब्धता को भीतर में भरते हुए सब अपनी अपनी कुटिरों में निद्राधीन हुये।

सोने जाते समय मेरे भीतर प्रतिध्वनित हो रहे थे रजनीश जी के शब्द :

"सोने जागने दोनों से जब जागते हैं, तब कुछ पाते हैं। जिसमें सोने-जागने दोनों से जाग जाते हैं, वह धर्म-जागरण है।"

और साथ ही साथ भीतर से 'आदेश' भी मिल रहा था :

अब सोते हुओ भी सोना नहीं° है, जागना है..... । अब अधिक सोया जा भी कैसे सकता?"

स्मृति-लोक से आकर टकराने लगे थे महात्मा आनंदघनजी के पद के शब्द और स्वर :

अवधू! क्या सोवे तन मठ में.....

जाग विलोकन घट में.... !

और 'विलोकन'-घट में जागते हुए, तन-मठ में रहते हुए भी "बिना सोये," मैं सोने जा रहा था! सोते हुए भी जागने जा रहा था.....

शिविर का प्रथम दिन

शुक्र, ४ फरवरी, १९६६।

निशान्त के ४ बजे की अमृतवेला..... तारों भरा आकाश और निःस्तब्ध, निःशब्द वातावरण..... । प्रायः अधिकतर साधक अभी सो रहे थे। आदत का मारा मैं अधिक सो नहीं सका। कुछ प्रारंभिक प्रातर्विधि निपटाकर मुँह-अंधेरे ही बाहर चला। – ध्यान के लिये एकांत स्थान खोजने। थोडा चलकर एक झरने को पार कर, निकटस्थ पहाडी पर अंधेरे में टटोलता हुआ चढने लगा। बडा सन्नाटा छाया हुआ था, घना अँधेरा फैला हुआ था, घोर जंगल चारों ओर घिरे हुए था; पर भीतर जगी हुई, अमिट जल रही हुई कोई लौ पथ प्रदर्शन कर रही थी। ऐसे वातावरण में भी अविचलित रह रही थी। एकाएक, जिनको अनुभव की कसौटियों पर उतारने का प्रयत्न किया था ऐसी, श्रीमद् राजचन्द्र के 'अपूर्व अवसर' पद की अनवदशी' पंक्तियाँ, अज्ञातमन से उठने

लगी :

"एकाकी वच्ची विचरतो स्मशान मां
ने पर्वत मां वाघसिंह संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमां नहीं क्षोभता,
जाणे पाम्या परममित्र नो योग जो।
अपूर्व - अवसर एवो क्यारे आवशे?"

(श्रीमद् राजचन्द्रजी)

यह निर्जन पर्वतीय स्थान भी सिंहादि से रिक्त नहीं था। स्मृति हो आई - मेरे दिवंगत पिताजी ने साठों पूर्व के अपने सुनाये हुए अनुभव की।..... इसी स्थान पर..... शायद नीचे के झरने के पास..... उन्हें ऐसे ही प्रातर्समय में एक शेर भेंट गया था और उन्हें भागना पडा था। बूँदी को भी जब तक ऐसा कोई भेट नहीं गया था तब तक भीतर की अभय की 'लौ', 'अडोल आसन'

और 'परममित्र' को मिलने की भावना जाग्रत थी, पर यदि वह मित्र मिल जाता तो पता चल जाता कि वह कितनी टिक पाती है और दोनों में से 'किस का' भीतरी भाव 'किस पर' प्रभाव डालता है।

खैर! खोजता खोजता ऊपर चढ़ा। अँधेरे में अेक सफेद पेड़ दिखाई दिया। पास में अेक शिला भी पड़ी हुई पाई। अभी तो अँधेरा ही था, पर ध्यान के लिये यह अच्छा प्रतीत हुआ। बैठ गया "ध्यान में होने" का नित्य का प्रयत्न करने। बाहर से भी बैठ गया, भीतर से भी। कुछ सशब्द गान और बाद में नीरव, निःशब्द ध्यान में यहाँ रोज से अधिक आनंद पाया। कुल घंटा भर कैसे बीत गया, पता नहीं। ठीक जब समाप्ति हुई तब दूर के मंदिर का घंटनाद प्रारंभ हुआ सुनाई दिया। आंखें खुलीं और ऊषा के अुजाले में दिखाई दिया – सामने फैला हुआ मनोरम दृश्य। अंधेरे में और आंखें

बंद थी तब तक उसका पता नहीं था। 'भीतर की आँखें' - चेतना की दिव्यदर्शी आँखें भी बंद रहती हैं। तब तक ही सामने, निकट ही रहा हुआ दिव्य दृश्य नहीं दिखाई देता न! जहाँ बैठा था उस ऊंचाई से अनूठे दिखाई दे रहे थे चारों ओर के पेड़, पहाडियाँ, पूर्वाकाश में परिव्याप्त ऊषा का प्रकाश और सर्वत्र छाया हुआ बसंत! पाया कि असंतोष और वासनाओं की निम्नभूमि से ऊंचे, 'ऊंचाई पर' जब उठते हैं, मन-बुद्धि-अहं के निम्नस्तर से ऊंचे चेतना की ऊंचाई पर जब उठते हैं, तब दृष्टिगत जीवन के उसपार का कुछ दर्शन होता है, सर्वत्र लहराते हुए 'चिर-वसंत का किंचित् अनुभव होता है।

और फिर देखा, बिलकुल निकट खडा हुआ वह सफेद पेड़ ....! कैसा अजीब दर्शन था उसका! उसका पुराना चमडा-पुराना कपड़ा- बिलकुल उतर गया था, वह पूर्णरूपेण

का — ऊपर का, — बाहर का कपड़ा उतारकर, पुराना सब कुछ झाड़ फटकार कर उतार देना होता है / अनावृत्त, मान्यता-मुक्त, शून्यवत् बनकर जाना होता है / (पुराना सब कुछ झाड़ फटकार कर उतार देना होता है) और तभी उससे कुछ साक्षात्कार होता है, तभी जीवन में उस चिर वसंत का किंचित् स्पर्श होता है ..... / "

मैं इस पेड़-गुरु का मन ही मन उपकारवश अभिवादन कर रहा / उठा तो वह श्याम शिला भी मानों निर्ममभाव से अपना वृत्तांत मुझसे कह रही :

"मैं अपनेमें ही स्थिर पड़ी हूँ ... / तुम आए / आकर मुझ पर बैठे / और अब जाने भी लगे / तुम्हारे किसी भी उपक्रम का मुझ पर कोई असर नहीं हुआ है, न हर्ष न शोक / बैठने के लिए तो स्थान तुम्हें बिलकुल अशातभाव से, सहजभाव से ही मैंने दिया और मैं तो केवल जागरुक देखनेवाली ही

बनी रही .... ।"

और मैंने उससे पाया कि —

"स्व-रूपी शिला पर ही स्थिर बनकर पड़े रहना है, अपने आप में बने रहना है। बाहर के भाव कितने ही भीतर आजे, रुके या जाये, अपने आसन को अडोल अचल रखना है, बदलना नहीं है, न विचलित होना है, न उनसे मिल जाना है, पर सहजभाव से उन सभी के जागरुक जानने देखनेवाले, ज्ञाता दृष्टा बने रहना है।"

मैंने इस पत्थर-गुरु का भी मन ही मन अभिवादन किया। पेड़ और पत्थर, वृक्ष और शिला, एक चेतन और एक जड़, फिर भी दोनों, एक दृष्टि से, आज मेरे गुरु बने थे। उनसे हुई उपलब्धियों के आनंद में दो पंक्तियाँ भीतर से फूट पड़ी:

"श्वेतवृक्ष और श्यामशिला यह
ज्ञाता-प्रदाता बन गए रह।"

इन्हें गुनगुनाता हुआ, उनके चरणों में

फिर आ कर बैठने का संकल्प किए मैं जब शिविर की ओर चल पड़ा तब बहिराकाश में सूर्योदय हो रहा था, मेरे अंतराकाश में भी अभिनव उन्मेष का उदय हो रहा था।

शिविर में पहुँचकर मैं उसके क्रम में जुट गया, जो कि तीन दिन के लिए सामान्यतया निम्नप्रकार से बना था :

प्रातः ९-० बजे तक प्रातर्विधि, स्वैच्छिक शरीर परिश्रम - सफाई, जलपान इत्यादि। ९-० से १२-३० तक रजनीश जी का प्रवचन, ध्यान एवं अन्य कार्यक्रम। १२-३० से ४-० तक भोजन, विश्राम, वैयक्तिक कार्य। ४-० से ६-० रजनीशजी के साथ वार्तालाप-प्रश्नोत्तर एवं अन्य कार्यक्रम। ६-० से ८-० भोजन एवं मुक्त विहार। ८-० से १०-३० अन्य कार्यक्रम, रजनीशजी का रात्रिप्रवचन एवं ध्यान। १०-३० शयन।

९-० बजने से पूर्व ही सभी समामंडप में आ गए। रजनीश जी भी पधारे। फिर मेरी

सितार के तारों पर भीतर के तार गुंज उठे। रजनीश जी के कल रात की प्रवचनांत सूचनाओं के विवेकदृष्टि के विचार जागृत हुए और जागरण के उस केन्द्र से निस्रृत हुआ - बुद्ध एवं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के 'आत्मदीपो भव' वाला मेरा एक प्रिय गुजराती गीत :

तू तारा दिलनो दीवो धा! ओ रे ओ रे ओ भाया!
रखे कदी तू उछीना लेतो पारकां तेज ने छाया,
ए रे उछीना खूटी जशे ने रही जशे पडछाया....
तू तारा दिलनो दीवो धा....!"

(अपूर्ण)

(- श्री. भोगीलाल गांधी)

अन्यों से उधार ले कर नहीं, किंतु भीतर की निजी अनुभूति रूपी दीपक को जलाकर सत्य का स्वयं-प्रकाश पाने का संकेत करनेवाला यह गीत समाप्त हुआ। रजनीश जी का प्रवचन शुरु हुआ - कल के ही प्रारंभ के विषय 'जीवन-सत्य की खोज' के अनुसंधान में।

उनके वही स्थिर ज्ञान-कूप से निष्पन्न अंतस्सलिला में आज बड़ा ही वेग था, वेधकता थी, निर्भय स्पष्टता थी। फिर वही आश्चर्य सी लगनेवाली बात कि उपर्युक्त स्वयं-निर्भरता की बात पर ही उसमें अत्यधिक महत्व दिया गया था:-

"जीवन सत्य की खोज है और जब तक हमें ठीक ठीक अर्थों में ऐसी दृष्टि उपलब्ध न हो जायँ तब तक एक घेरा संताप घेरे रहेगा।"

"जब तक भीतर देखनेवाली दृष्टि न हो तब तक पैरों की भुल सुधारी नहीं जा सकती।"

"सत्य की और संतुष्टि की खोज में बहुत भेद है। लोग सत्य की खोज में नहीं जाते, संतुष्टि की खोज में जाते हैं। संतुष्टि असत्य से भी मिलती है और वे असत्य को भी स्वीकार कर लेते हैं।"

संतुष्टि की खोज में 'जो नहीं है' उस पर नजर रखनी होती है, जब कि सत्य की

खोज में 'जो है' उस पर।"

"सत्य की खोज धार्मिक मन करता है और संतुष्टि की खोज सांसारिक मन।"

"मांग हमेशा वासना की होती है। सत्य को वे उपलब्ध करते हैं जहाँ कोई मांग नहीं होती।"

"हमारे धर्मग्रंथों में लिखा होता है कि 'मेरी जय हो, मेरे शत्रुओं की हार हो!' ये सब 'धर्मग्रंथ नहीं है।.... आपकी सारी प्रार्थनाओं में भी यही होता है – किसीसे 'छिनने' की बात।.... प्रार्थना वस्तुतः 'जो मिला है' उसका 'धन्यवाद' है, 'नहीं मिला' उसका 'मांगना' नहीं।"

"जो 'खोजता' है, 'खोजनेवाला' है वह 'खो' देता है, और जो खोने को राजी होता है, जो 'खो देनेवाला' है, वह पा लेता है।"

"कोई किताब परमात्मा की नहीं है। जो जीवन में चारों ओर फैला है वह परमात्मा की किताब है।"

सत्य कोई 'वस्तु' नहीं° है, 'अनुभूति' है। किसीकी 'कृपा' या 'चोरी' या 'झपटी' से वह प्राप्त नहीं° होती। अनुभूति की मालकीयत नहीं° होती। हमारी सत्ता जितनी उन्मुक्त, अनुभूति उतनी विकसित। ... सत्य तो निरंतर है, हमारे भीतर जितनी ग्राहकता - Receiptivity - उतनी उसकी प्राप्ति।"

अन्यों से उधार ले कर नहीं, किंतु निजी अनुभूति से, 'ग्राहकता' अनुसार, सत्य पाने की इस प्रबुद्ध चेतना-प्रदाता वाणी के पश्चात् रजनीश जी ने अपनी ध्यान की प्रक्रिया का रहस्य बतलाया —

"किसी पर ध्यान करने को 'ध्यान' मैं° नहीं° कहता। ये सब के सब विचार या विचार की स्थितियाँ हैं। ध्यान की मेरी परिभाषा - जब आपके चित्त में कोई भी' नहीं° होता, कुछ भी 'नहीं° होता, जब 'आप ही अकेले रह जाते हैं, तब, ऐसी State of mind में, आप ध्यान में होते हैं। जब तक

कोई भी चीज आपके पास में है तब तक 'स्वयं' पर नहीं जा पाते। 'स्वयं' पर जाने के लिए सब तरफ से ध्यानशून्य बनना पडता है। ध्यान 'लगाने' की बात नहीं, ध्यान को 'कहीं न लगाएँ' तब ध्यान होगा।... ध्यान का अर्थ एकाग्रता नहीं। चित्त को कहीं न लगाने की स्थिति, 'स्वयं में होने की स्थिति' ध्यान की स्थिति है। ध्यान 'आत्मिक दशा' है जो बडी सहज है अगर समज में आ जाये और सबसे कठिन भी है, अगर समज में न आये...।"

और फिर जिन्हें वे 'कृत्रिम उपाय' कहते हैं उसके जरिये, समीको प्रत्यक्ष ही ले जाया गया – इस 'ध्यान' के निगूढ लोक में: बोधित 'अनुभूति' का आरंभ करवाने, बिछडे हुए अपने आपसे मिलाने, स्वयं पर ले जाने, निःशब्दता की आत्मिक दशा का संस्पर्श करवाने। 'बाहर' से छुडाकर, भीतर रही हुई 'बाहर की भीड' को भी निकालकर, शून्य की – 'स्व' की – अवस्था में, निर्झर में

ले जाने का यह ध्यान-प्रयोग रजनीशजी की महत्व की देन थी। प्रवचन के द्वारा चित्त की भूमिका की शुद्धि करने के पश्चात् अंतस्-क्षेत्र में बीज बोने की ~~पश्चात्~~ प्रायोगिक साधना यहां शुरु होती थी। और सचमुच कैसा सुंदर, कैसा सहज, कैसा स्वत्व-परिचायक था वह ध्यान! रजनीश जी की सूचनाओं के अनुसार सब अलग अलग, अकेले में, सभामंडप या पेडों के नीचे दूर दूर तक बैठ गये हैं: अर्धोन्मीलित या उन्मीलित नयन, स्थिर रीढ़ और शिथिल शरीर/सब नीरव और अपने आप में स्थिर बनने जा रहे हैं। बाहर भी प्रायः निःस्तब्धता है। रजनीश जी अपनी सुमधुर वाणी से संकल्प-संदेश देते हुअे सभी को ध्यान में ले जा रहे हैं:

शरीर शिथिल हो रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है.....मन शांत हो रहा है, मन शांत हो रहा है,..... मन शून्य हो रहा है, मन शून्य हो

३८

रहा है, मन शून्य हो गया है..... साँस धीरे धीरे आती है और जाती है, आप उसे देख रहे हैं, आप उसके 'देखनेवाले' रह गये हैं, 'साक्षीमात्र' रह गये हैं..... साक्षीमात्र..... केवल साक्षी..... केवल द्रष्टा.....!"

और दो-पांच मिनट में तो अपनी अपनी भूमिका के अनुसार प्रत्येक स्वयं अनुभव करने लगता है - इस साक्षीभाव-ज्ञाताद्रष्टा-भाव के स्वात्मदर्शन की शून्यानुभूति के आनंद का ! अपने लिये, अपने लिये, अपना ही आनंद !!

प्रथम ध्यान में ही मुझे अनुभव होता है:-

यह अपना घर है, निजनिकेतन है, इसे वह भूल गया था, इसे छोड वह बाहर भटक रहा था - 'शांति की भ्रांति' में ! पर जब आया भीतर, तब पाया कि शांति का सागर तो यहाँ लहरा रहा है, व्यर्थ बाहर भटकता रहा - "कस्तूरी कुंडल बसे, मृगा ढूंढे बन मांही" : इसी घट अंतर बागबगीचे, इसीमें सरजनहारा !.....

घट-अन्तर के शून्यभवन में - निजनिकेतन में - पहुँचने पर खोया हुआ अपनापन मिल गया, परम तृप्ति हो गई, सारी दौड़ मिट गई... कितने ही काल के बाद 'घर' लौटे हुए श्रान्त, क्लान्त, अशान्त पान्थ को चिर शांति मिल गई, उसकी भ्रान्ति मिट गई, वह 'प्रबुद्ध' बन गया.... 'प्रशान्त' बन गया.... स्वयं 'निशान्त' बन गया।

(क्रमशः)